ग्रहणी रोग

ग्रहणी रोग पाचन संस्थानगत रोगों में प्रमुख है। पाचन संस्थानगत अन्य रोगों के समान इसका भी प्रधान हेतु मन्दाग्निता है। अग्निमान्द्य, भोजनोत्तर अपक्व द्रवमल प्रवृति तथा ग्रहणी नामक अवयव की दुष्टि से ग्रहणी रोग का ज्ञान होता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार पक्वाशय एवं आमाशय के बीच स्थित षष्ठी पित्तधरा कला ही ग्रहणी है।

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता ।

पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥ सुश्रुत उत्तर ४०। १६८

ग्रहणी नामक अंग विशेष को अधिष्ठान् करके उत्पन्न होने वाले रोग को ग्रहणी रोग कहा जाता है। ग्रहणी को अग्नि का अधिष्ठान माना जाता है। इसी ग्रहणी को षष्ठी पित्तधरा कला का अधिष्ठान मानते हुए आश्रय एवं आश्रयी में अभेद से ग्रहणी स्थित विकार को ग्रहणी दोष कहते है।

ग्रहणीमाश्रितोऽग्निदोषो ग्रहणीदोषः एवं चाश्रयाश्रयिणोरभेदोपचारादग्रहणीदोषशब्देन ग्रहणीव्याश्रितोऽग्निदोषोऽपि गृह्यते । च·चि·१५।१-पर चक्रपाणि टीका

इस प्रकार ग्रहणी अवयव महास्त्रोतस के एक अंग विशेष का नाम है। आचार्य वाग्भट के अनुसार ग्रहणी अन्तराग्नि का अधिष्ठान होने से आमाशय तथा पक्वाशय के मध्यस्थ रहते हुए आहार का चतुर्विध बलपूर्वक धारण कर पित्त के सहयोग से पाचन एवं शोषण करती है।

ग्रहणी के कार्य

ग्रहणी, पित्तधरा कला, पाचक पित्त और समान वायु मिलकर चार कार्य करते हैं-

१. अन्न को आमाशय से ग्रहण करना

२. अन्न का पूर्ण पाचन करना

३. रस -किट्ट का विभजन तथा आहार रस का शोषण

४. किट्ट को पक्वाशय की ओर भेजना

ग्रहणी रोग में इन कार्यों की विकृति स्पष्टतः दीखती है।

पित्तधरा कला का सुविदित परिचय देकर आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः। तस्मात् सन्दूषितो बह्वौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति ॥

सुश्रुत उत्तर ४०। १६७

ग्रहणी का बल अग्नि को माना है और वह अग्नि ग्रहणी को आश्रित करके रहती है। इसलिए अग्नि के सन्दूषित होने पर ग्रहणी कला दूषित हो जाती है। अत्यधिक बढ़े हुए वातादि दोषों के ग्रहणी कला में आश्रित होकर उसे दूषित कर देने पर वह ग्रहणी खाये हुए अन्न को अनेक बार आम अपक्व रुप में ही विसर्जित करती है।

ग्रहणी रोग की परिभाषा

पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवं।ग्रहणी रोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः॥

सुश्रुत उत्तर ४०। १७२

दोषों से दूषित ग्रहणी नामक कला खाये हुए अन्न को कभी पक्वकर पचा के तथा कभी अपक्वावस्था में अनेक बार त्यागती है एवं मलत्याग के बाद उदर में पीड़ा भी होती है तथा मल से दुर्गन्ध आया करती है। यह मल कभी बँधा हुआ तथा कभी पतला उत्सर्गित होता है। इस प्रकार के रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं।

ग्रहणी रोग के निदान

यदि कोई व्यक्ति अतिसार से ग्रसित हो अथवा उससे निवृत हो गया हो परन्तु अहिताहार विहार करे तो उसे ग्रहणी रोग होने की सम्भावना होती है।क्योंकि अतिसार में मन्दाग्नि मुख्य हेतु है।मन्दाग्नि पुरूष की जठराग्नि वातादि दोषों द्वारा अधिक विकृत होकर ग्रहणी को भी विकृत कर देती है। वातादि दोषों के कारण विकृत ग्रहणी आहार को आमरूप अथवा पक्वरूप में त्याग

देती है ।अतिसार के बिना भी ग्रहणी रोग हो सकता है । जो मनुष्य जिह्वा की चंचलता से आहार की विधियों को छोडकर भोजन करता है वह ग्रहणी की विकृति से होने वाले रोग को शीघ्र ही प्राप्त करता है ।

- **अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो बह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥**

  सुश्रुत उत्तर ४०। १६७

- **यो हि भुङ्क्ते विधित्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान् । स लौल्याल्लभते शीघ्रं वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ते ॥ च·चि·१५।४१**

आहारजन्य निदान	विहारजन्य निदान	पंचकर्मजन्य निदान
भोजन न करना	देश काल ऋतु का वैषम्य	विरेक, वमन, स्नेह पान का विभ्रम होने पर
अधिक भोजन करना	वेग धारण से	
अजीर्ण होने पर भोजन करना	व्याधि से कृश होने पर	
विषमाशन		
असात्म्य अन्न सेवन		
गुरू, शीत ,अतिरूक्ष व बासी भोजन सेवन से		

सम्प्राप्ति चक्र उपरोक्त निदान सेवन

⇩

मंदाग्नि

⇩

आम दोष

⇩

षष्ठी पित्त धरा कला में स्थान संश्रय

⇩

ग्रहणी दुष्टि

⇩

पक्व एवं अपक्व अन्न का अधोभाग से निर्हरण

⇩

कभी द्रव व कभी बंधे हुये मल की प्रवृति

⇩

ग्रहणी रोग

- **ग्रहणी रोग के पूर्वरूप --**
    - तृष्णा
    - आलस्य
    - बलक्षय
    - अरूचि
    - आन्त्रकूजन
    - अन्नविदग्धता
    - अम्लोद्गार
- **सामान्य लक्षण--** अतिसृष्टं विबद्धं वा अर्थात मल का कभी बँधा हुआ तथा कभी द्रव रुप मे आना, तृष्णा, अरोचक, वैरस्य (मुँह का फीकापन), प्रसेक, तमकान्वितम् (आखों के सामने अँधेरा आना), हस्त एवं पाद में शोथ, अस्थि वेदना, छर्दि, ज्वर लोहामगन्धितिक्त अम्लउद्गार इत्यादि ग्रहणी के सामान्य लक्षण हैं।

भेद -- दोष वैशिष्टय के आधार पर

- वातिक ग्रहणी
- पैत्तिक ग्रहणी
- कफज ग्रहणी
- सन्निपातज ग्रहणी

माधव के अनुसार

- संग्रह ग्रहणी

- घटीयन्त्र ग्रहणी

सिद्धांत निदान में

- राज ग्रहणी
- क्षतज ग्रहणी
- क्षयज ग्रहणी
- निर्मोक ग्रहणी का वर्णन मिलता है ।

विशिष्ट लक्षण

वातज ग्रहणी के लक्षण	**पित्तज ग्रहणी के लक्षण**	**कफज ग्रहणी के लक्षण**
१.अन्न विदाह २.अन्न का यथोचित पाचन न होना ३. मुख कण्ठ तालु का शुष्क होना ४.कर्णनाद काश्र्यता ५.दौर्बल्य ६.छर्दि व अतिसार का एक साथ होना ७.विसूचिका ८. मानसिक अवसाद ९. गुद द्वार में पीङा १०. गुल्म, हृद्, अथवा प्लीहा रोग होने की शंका होना ११.आहारपाक के उपरान्त आध्मान का होना।	१. मल का अपक्व रहना तथा नील पीत वर्ण युक्त रहना। २. रोगी का वर्ण पीला होना ३. खट्टी डकार आना ४. हृत् प्रदेश एवं कण्ठ में दाह ५. अरूचि तृष्णा की प्रतीति	१.आहार का सशूल तथा विलम्ब से पाचन २.उत्क्लेश वमन मुख के रस की मधुरता ३.अरोचक प्रतिश्याय कास ४. उदर प्रदेश का भारी होना एवं निष्क्रियता ५.पुरीष का भिन्न तथा आम एवं कफ संयुक्त होना

संग्रह ग्रहणी (संग्रहणी)

यह त्रिदोषज ग्रहणी का ही चिरकालीक परिवर्धित रूप है। इसके लक्षणों में आन्त्रकूजन, दिवस में प्रकोप रात्रि में शान्ति, मास,पक्ष या सप्ताह या प्रतिदिन रोग का आक्रमण होता है। इन लक्षणों के अतिरिक्त द्रव-शीत-घन-स्निग्ध-अपक्व-पिच्छिल मल का आना तथा पुरीष प्रवृति सशब्द एवं वेदना सहित होना-ये लक्षण भी मिलते है।

कुछ समय तक दोषों और मलों का संग्रहण होता है और फिर निर्हरण होता है।अतः रोगी कुछ दिन ठीक रहता है पुनः द्रव मल प्रवृति हो जाती है यही क्रम चलता रहता है। इस प्रकार कुछ दिन संग्रहण की प्रवृति के कारण ही इसे संग्रह ग्रहणी या संग्रहणी कहते हैं।

घटीयन्त्र ग्रहणीः

लेटने से पार्श्व में शूल और ऐसी आवाज का होना जैसे घड़े को पानी मे डुबोते समय होती है। इसीलिए इसे घटी यंत्र कहते हैं।इसे असाध्य माना जाता है।

- **स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः । तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥**

माधव निदान ४।४

राज ग्रहणी

यह रोग प्रधानतया धनाड्य वर्ग के लोगों (राजाओं-महाराजाओं) में पाया जाता था इसलिए इस विकार को राज ग्रहणी संज्ञा कहते हैं। इसके मुख्य लक्षण निम्न हैं-

- द्रव मल
- शुक्ल व पाण्डू वर्ण की मल प्रवृति
- स्नेहयुक्त मल प्रवृति
- रक्ताल्पता

- जिह्वा व शरीर का पाण्डू वर्ण
- मुखपाक
- गुदपाक
- बलक्षय
- वसा शर्करा धान्य अपथ्य होते है।

क्षतज ग्रहणी

- अतिसार तथा प्रवाहिका के शान्त होने पर ग्रहणी में क्षत हो जाने के फलस्वरुप यह विकार उत्पन्न होता है।इसमें रक्तमिश्रित द्रवमल का सरण होता है ॥

इसके लक्षण निम्न प्रकार है-

- बार-बार द्रव मल प्रवृति
- आमयुक्त द्रवमल
- रक्तमिश्रित मल प्रवृति

क्षयज ग्रहणी

- उदर में आतों की दीवारों आतों की सूक्ष्म कोशिकाओं या पित्तधरा कला में जब क्षयकारक जीवाणुओं की उपस्थिति के कारण ग्रहणी विकृत हो जाती है तब उस रोग को क्षयज ग्रहणी कहते हैं॥

इसके लक्षण निम्न प्रकार है-

- पिच्छिल मल प्रवृति
- रक्तमिश्रित मल प्रवृति
- अतिसार

निर्मोक ग्रहणी

- जब सांप की केंचुली के समान आन्त्र की झिल्ली के साथ रक्तमिश्रित मल का शूल सहित निर्हरण हो तो उसे निर्मोक ग्रहणी कहते हैं । यह दीर्घकालानुबन्धी रोग है।

साध्यासाध्यत्व-

- बालक में ग्रहणी रोग साध्य होता है।
- युवावस्था में ग्रहणी रोग कृच्छ्रसाध्य होता है।
- वृद्धावस्था में ग्रहणी रोग असाध्य होता है।
- संग्रह ग्रहणी कृच्छ्रसाध्य मानी जाती है।
- घटीयन्त्र ग्रहणी असाध्य होती है।

ग्रहणी रोग का चिकित्सा सिद्धांत

ग्रहणी रोग में अग्निमांद्य और आम मुख्य घटक है। साथ ही मल प्रवृति से आम एवं पक्व मल का विचार करना पडता है।

आम दोष में कर्तव्य

- साम ग्रहणी उष्ण जल पिलाकर या मदनफल क्वाथ में पिप्पली सर्षप का कल्क मिलाकर वमन कराना चाहिए ।
- आमदोष शरीरानुगत हो तो लघंन पाचन कराना चाहिए ।
- आमदोष उदर में लीन हो या पक्वाशय में स्थित हो तो दीपन द्रव्य से युक्त विरेचन करना चाहिए ।
- जब आशय से आमदोष निकल जाये तो पञ्चकोल आदि दीपन पाचन द्रव्यों के क्वाथ अथवा कल्क से साधित पेया आदि लघु अन्न खिलाते हुए दीपन पाचन योगों का प्रयोग करना चाहिए ।
- **वातज ग्रहणी की चिकित्सा** आम पाचन के पश्चात ⇨ दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत पान अल्प मात्रा मे ⇨ जठराग्नि दीप्त यदि मल मूत्र अपान वायु विवद्ध हो⇨ २ या ३ दिन स्नेहन स्वेदन ⇨ निरुह वस्ति ⇨ वायु शान्त हो जाने पर मल ढीला होने पर ⇨ विरेचन एरण्ड तैल या क्षारयुक्त तिल्वक घृत से ⇨ शोधन पश्चात कोष्ठ

के रुक्ष होने से मल विवद्ध होने पर दीपन अम्ल रस युक्त वातनाशक द्रव्यों से साधित तैल से अनुवासन वस्ति ⇨ पेया आदि लघु भोजन सिद्ध घृत का नित्य प्रयोग अग्नि बलानुसार करना चाहिए ।

- **पित्तज ग्रहणी की चिकित्सा** - वमन ⇨ विरेचन ⇨ विदाह उत्पन्न न करने वाले तिक्त रस युक्त लघुअन्न तिक्त रस प्रधान चूर्ण या तिक्त रसात्मक द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए ।

- **कफज ग्रहणी की चिकित्सा** - वमन ⇨ कटु अम्ल लवण क्षार तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन कराके जठराग्नि उद्दीप्त करें।

- **त्रिदोषज ग्रहणी की चिकित्सा**- पञ्चकर्म कराकर दीपन घृत, क्षार, आसव तथा अरिष्ट का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिदोषे विधिविद्वैद्यः पञ्कर्माणि कारयेत् । घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान् ॥

चरक चिकित्सा १५।१९४

- **ग्रहणी में चिकित्सा औषध प्रयोग**

एकल द्रव्य - तक्र, बिल्व, कुटज, भाँग, अहिफेन, धत्तूर।

- **चूर्ण** - इसबगोल चूर्ण, बिल्व मज्जा चूर्ण, शुण्ठादि चूर्ण, पिप्पलाद्य चूर्ण ,भूनिम्बादिचूर्ण, नागराद्य चूर्ण, रास्नादि चूर्ण, कुटजादि विशेष योगचूर्ण, बृहन्नायिका चूर्ण, सर्जरस चूर्ण।

- **वटी** - चित्रकादि वटी, कुबेराक्षादि वटी, दुग्ध वटी ,अग्नितुण्डी वटी, तक्र वटी।

- **क्षार** - भल्लातक क्षार , त्रिफलादि क्षार ।

- **अवलेह**- तक्र हरीतकी, कल्याणावलेह ।

- **आसवारिष्ट** - तक्रारिष्ट, कुटजारिष्ट, पिण्डासव ।

- **दीपन घृत** – पञ्चमूलाद्य घृत, बिल्वाद्य घृत, शुण्ठी घृत ।
- **रस औषधि** – अग्नि कुमार रस, ग्रहणी कपाट रस, पीयूष बल्ली रस, ग्रहणी गज केशरी,कनकसुन्दर रस, अन्त्रशोषान्तक रस, नृपतिवल्लभ रस, महागन्धक रस, लवङ्गाभ्रक योग, अगस्तिसूतराज ।
- **पर्पटी प्रयोग** – ग्रहणी रोग की सर्वोतम चिकित्सा पर्पटी कल्प है। निम्न सात पर्पटियों में से रोगावस्थानुसार किसी भी एक का कल्प करा सकते हैं।

रस पर्पटी— सामान्य ग्रहणी में

स्वर्ण पर्पटी-- क्षयजन्य ग्रहणी में

मण्डूर पर्पटी -- रक्तक्षय तथा कृमि विकार युक्त ग्रहणी में

विजय पर्पटी -- सशोथ एवं जलोदर युक्त ग्रहणी में

गगन पर्पटी -- कास एवं श्वास युक्त ग्रहणी में

ताम्र पर्पटी -- प्लीहावृद्धि युक्त अवस्था में। इसका प्रयोग सावधानी से करें। ताम्र की अधिक मात्रा से उपद्रव हो सकते हैं।

पञ्चामृत पर्पटी -- सामान्यतः ग्रहणी रोग में व्यवहार में इसी का प्रयोग प्रचलित है।

पर्पटी कल्प प्रायः दो प्रकार से करते है- **१ सान्नकल्प** अर्थात् रोगी को अन्नादि आहार देते हुए **२ निरन्न कल्प** अर्थात् रोगी को अन्न न देकर दुग्ध, तक्र या फलाहार पर रखते हुए। जिन रोगियों में अतिसार की प्रवृति हो उन्हे तक्र पर और जिनमें विबंध की प्रवृति हो उन्हे दुग्ध पर रखना श्रेयस्कर है।

ग्रहणी में वर्धमान पर्पटी कल्प-

इनके दो प्रकार हैं इनमें भेद पर्पटी की मात्रा तथा काल के अनुसार होता है।प्रथम प्रकार का निर्देश भैषज्यरत्नावलीकार ने दिया है।इस प्रयोग में प्रथम दिन दो गुञ्जा रस पर्पटी निर्दिष्ट अनुपान से देनी चाहिए। पश्चात् नौ दिन तक प्रतिदिन एक एक गुञ्जा पर्पटी की मात्रा बढाते जायें। इस प्रकार नौवें दिन पर्पटी का प्रमाण दस गुञ्जा हो जाता है बारह

दिन यही मात्रा स्थिर रखें। बाइसवें दिन से मात्रा एक एक गुञ्जा घटाते जाएँ। इस प्रकार तीस दिन में यह क्रम पूरा होता है।

द्वितीय प्रयोग प्रकार भावमिश्र आदि आचार्यों ने बताया है।इसमें प्रथम दिन एक गुञ्जा रसपर्पटी दें। पश्चात् दश दिन पर्यन्त मात्रा एक एक गुञ्जा बढ़ाते जाएँ।ग्यारहवें दिन से एक एक गुञ्जा मात्रा घटाते जाएँ। इस प्रकार कुल बीस दिनों में एक कल्प पूर्ण होता है।

अनुपान में पर्पटी के साथ १-३ माशा भर्जित जीरा तथा आधा गुञ्जा शोधित हींगु मधु मिश्रित कर दें।

वर्धमान पिप्पली कल्प- ग्रहणी चिकित्सा में पिप्पली क्षीरपाक वर्द्धमान क्रम से (1-10,10-1, 1-10, 10-1=40 दिन) देना चाहिए।

पथ्य- पुराण शालि, साठी का चावल, लाजमण्ड, लाजपेया, मूँग की दाल का यूष ,तक्र, अजा दुग्ध, कच्चा केला , दाडिम , कपित्थ, लंघन , निद्रा।

अपथ्य- अत्याम्बुपान, गुरु तथा स्निग्ध भोजन, अवगाहन, अग्नि संताप, दिवास्वप्न, अभ्यंग, अति व्यायाम, असात्म्य आहार विहार।